

स्वानुभूतिप्रकाश

वीर संवत-२५३८ अंक-१७६, वर्ष-१६, मई-२०१२

अषाढ वद ८, गुरुवार, दि.२७-७-१९७८, बहिनश्री के
वचनामृत - १३५-१३६ पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी
का प्रवचन, प्रवचन - ४९

एक-एक दोषको ढूँढ-ढूँढकर टालना नहीं पड़ता। अंतरमें दृष्टि
स्थिर करे तो गुणरत्नाकर प्रगट हो और सर्व दोषोंका चूरा हो
जाय। आत्मा तो अनादि-अनन्त गुणोंका पिण्ड है।।१३५।।

१३५. 'एक-एक दोष को ढूँढ-ढूँढकर टालना नहीं पड़ता।' क्या कहते हैं? यह राग जो है शुभ और अशुभ ऐसे - एक एक दोष को खोज-खोजकर मिटाना नहीं पड़ता। क्योंकि दोष पर दृष्टि रहे और इस दोष को मिटाऊँ (ऐसा करने जाये तो) ऐसे तो दोष मिटेगा नहीं। आहा..हा..! एक-एक दोष को ढूँढकर, खोज करके मिटाने नहीं पड़ते। 'अंतर में दृष्टि स्थिर करे...' आहा..हा..! अंदर में पूर्ण स्वरूप भगवानआत्मा उसमें नजर को जमाने से 'गुण रत्नाकर प्रगट हो जाये। अंतर में दृष्टि स्थिर करे तो गुणरत्नाकर प्रगट हो...' गुणरत्नाकर - गुण का, रत्न का समुद्र। आहा..हा..! इसकी क्या तारीफ की जाये? बापू! यह कोई वचन में आ सके ऐसी चीज नहीं है। अनुभवगम्य है। आहा..हा..! अरूपी इन्द्रिय से ग्राह्य नहीं, विकल्प से ग्राह्य नहीं है, आहा..हा..! और पर्यायबुद्धि में रहकर भी ग्राह्य नहीं हो सकता। आहा..हा..! ऐसा जो भगवानआत्मा चैतन्य रत्नाकर प्रगट होगा।

'और सर्व दोषों का चूरा हो जाये।' है न? 'सर्व दोषों का चूरा हो जाय।' चूरा हो जाये। आहा..हा..! प्रायश्चित के लिये यह विकल्प वही का वही ऐसा नहीं करना पड़ता। जब अंतर में आनंद स्वरूप में विशेष उग्रता से जाता है तब चैतन्य रत्नाकर प्रगट होता है, तब सारे दोष मिट जाते हैं। इसका नाम प्रायश्चित है। आहा..हा..! ऐसी बातें बहुत गहरी! भाई! मार्ग वीतराग जैन परमेश्वर त्रिलोकीनाथ का तो ऐसा कथन है। दिव्यध्वनि, भगवान की दिव्यध्वनि में ऐसा आया है। समझ में आया? आहा..हा..! अरे..! पामर प्राणी को यह बात ऐसी लगे (कि)



ये तो सब कोई अगम्यगम्य की निश्चय की बातें कर रहे हैं। आहा..हा..! है तो ऐसा ही।

मुमुक्षु :-...

पूज्य गुरुदेवश्री :- अगम्य है वह विकल्प से अगम्य है परन्तु ज्ञान से गम्य है। इसका ज्ञान करने पर गम्य है। परन्तु कोई भी विकल्प दया, दान और व्रत, भक्ति और पूजा आदिक विकल्पों से प्राप्त हो ऐसी यह चीज ही नहीं है। आहा..हा..! अभी तो ये सब करते ही मान लेते हैं कि, हो गया धर्मी, हो चूका सब। गीरनार की यात्रा एक-दो करे, सम्मोदशीखर की करे। आहा..हा..!

मुमुक्षु :- शत्रुंजय की करे।

पूज्य गुरुदेवश्री :- शत्रुंजय की करे कहा न 'पालीताणा', गीरनार 'एकबार वंदे जो कोई' आता है न? 'एकबार वंदे जो कोई' फिर 'नरक पशु न होई' परन्तु नरक और पशु नहीं न? सम्मोदशीखर (जाकर) भगवान के दर्शन बहुत भाव से करे, बहुत बार करता हो तो शुभभाव हो तो नरक-पशु में नहीं जायेगा लेकिन इससे भव का अभाव कहाँ हुआ? वहाँ तो परम्परा से जायेगा। आहा..हा..! भगवानआत्मा अनन्त गुणका राशि सम्मोदशीखर स्वयं ही है। इसपर आरूढ़ होने पर भव का अभाव हो ऐसी वह यात्रा है, आहा..हा..!

'चूरा हो जाये' ऐसा है न? चूरा हो जाय

गुजराती भाषा है न? 'गुणरत्नाकर प्रगट हो और सर्व दोषों का चूरा हो जाय' मतलब क्या? 'भूको' हो जाय। नष्ट हो जाय 'भूको' मतलब? आहा..हा..! भाषा तो काठियावार में बोलते हैं। 'भूको' बोली जाय। गुजराती भाषा सरल है। 'आत्मा तो अनादिअनन्त गुणोंका पिण्ड है।' आहा..हा..! भगवानआत्मा सच्चिदानंद प्रभु। सत्, चित् और आनंद जिसमें भरे हैं। शाश्वत ऐसा प्रभु अंदर,... आहा..हा..! अनादि अनन्त गुणों का पिण्ड है। आहा..हा..! जिसमें राग की गंध नहीं है। दया, दान, और व्रत-भक्ति के विकल्प की गंध भी जिसमें नहीं है। वे सब राग हैं, विकार हैं। आहा..हा..! कठिन लगे। धंधा छोड़कर मुश्किल से यात्रा पर निकले हो, इसमें फिर पाँच-पचास हजार या पाँच, पच्चीस, सौ-दोसो-पाँचसो रुपये खर्च करने पर लगे कि हम... आहा..हा..! धूल में भी कूछ नहीं है उसमें, सुन तो सही। आहा..हा..! जहाँ विकल्प का राग का भी अवकाश नहीं है और अंदर प्रभु में जिसके गुण का ही अवकाश है, आहा..हा..! इसकी मीठास के आगे राग की मीठास जिसकी छूट गई है, आहा..! ऐसा स्वरूप है। 'आत्मा तो अनादिअनन्त गुणोंका पिण्ड है।' आहा..हा..! अब शुरूआत से लेंगे।

सम्यक्त्वसे पूर्व भी विचार द्वारा निर्णय हो सकता है, 'यह आत्मा' ऐसा पक्का निर्णय होता है। भले अभी अनुभूति नहीं हुई हो तथापि पहले विकल्प सहित निर्णय होता तो है।।१३६।।

१३६. 'सम्यक्त्व से पूर्व भी विचार द्वारा निर्णय हो सकता है।' सम्यग्दर्शन होना वह तो आत्मा का अनुभव होना। आत्मा आनंद स्वरूप है, पूर्ण शुद्ध है ऐसा दृष्टि में आने पर निर्विकल्प दृष्टि होते ही आनंद का वेदन होना वह समकित

है। किन्तु समकित के पूर्व भी विचार द्वारा भी इसका निर्णय हो सकता है। यह वस्तु ऐसी है, (ऐसा) विकल्प द्वारा भी निर्णय हो सकता है न? आया है न? १४३ में आया है, ७३ वीं गाथा में आया है कि, मैं ऐसा हूँ, ऐसा हूँ (ऐसा) विकल्प

द्वारा प्रथम निर्णय करे। हालाँकि वह निर्णय यथार्थ नहीं है परन्तु ऐसा प्रथम हुए बिना नहीं रहता। सर्वज्ञ भगवान ने, परमेश्वर ने जैसा आत्मा कहा, इसके अलावा जगत के अन्य प्राणीने आत्मा कहा, इस पर से जैसा भगवान ने कहा ऐसा निर्णय करने के लिये प्रथम विकल्प आता है। आहा..हा.. ! कि यह परिपूर्ण है, अनन्त आनंद का सागर है। क्षेत्र तो मेरे शरीर प्रमाण ही है। सर्वव्यापक का मतलब सर्वत्र व्याप्ति हो, ऐसा क्षेत्र नहीं है। ऐसे नय निक्षेप और प्रमाण से प्रथम निर्णय करे। १३वीं गाथा में आता है। आहा..हा.. ! निश्चयनय से, व्यवहारनय से क्या है ऐसा निर्णय करे। निश्चय से अभेद है, व्यवहार से भेद और रागादि पर्यायभेद है ऐसा प्रथम निर्णय करे परन्तु वह अभी विकल्प, परन्तु ऐसी वस्तु का अनुभव सम्यग्दर्शन होने के पहले विकल्प में ऐसा निर्णय आता है। 'विचार द्वारा निर्णय हो सकता है।' आहा..हा.. !

'यह आत्मा, ऐसा पक्का निर्णय होता है।' भीतर में 'यह आत्मा' जानक जाणक जिसकी सत्ता है। जिसकी सत्ता में जानना होता है वह जाननेवाला सो आत्मा है। दूसरी चीज जो जानने में आती है वह कोई आत्मा नहीं है। जिसकी सत्ता में, मौजूदगी में ऐसा जानना होता है कि यह शरीर है, यह है, यह है, यह है, ऐसी सत्ता जो ज्ञान सत्ता भगवानआत्मा उसका निर्णय प्रथम विकल्प द्वारा हो सकता है। आहा..हा.. ! ऐसा पक्का निर्णय होता है। आहा..हा.. !

(समयसार) १४३ (गाथा में) ऐसा कहा है न? प्रथम आगम द्वारा निर्णय करे फिर मति और श्रुत के विकल्पों को छोड़कर अनुभव करे। आता है। (७३)वीं गाथा में भी आया है। 'समयसार'। मेरा आत्मा अखण्ड, पूर्ण, शुद्ध चैतन्य है। उसकी पर्याय में जो कुछ षट्कारकरूप परिणमन है इससे भी मेरी चीज अंदर में भिन्न है। जिसमें पर्याय-

अवस्था का भी अभाव है। ऐसा अनुभूतिस्वरूप भगवान त्रिकाल, त्रिकाल अनुभूति है! पर्याय की अनुभूति नहीं, ऐसा मैं हूँ, ऐसा प्रथम विकल्प से राग मिश्रित मन के संबंध से ऐसा निर्णय करे। समझ में आया? आहा..हा.. !

'भले अभी अनुभूति नहीं हुई...' अंतर अनुभव, आनंद के अनुभव का स्वाद आये ऐसा न हुआ हो। समकित होने पर तो अनुभूति होती है। अभी तो सम्यग्दर्शन चतुर्थ गुणस्थान है! पाँचवा श्रावक का और छठा मुनि का वह तो बहुत दूर की बात है, बापू! किसको कहना वह? आहा..हा.. ! समकित के पूर्व भी ऐसा निर्णय होता है। 'भले अभी अनुभूति नहीं हुई हो तथापि पहले विकल्प सहित निर्णय होता तो है।'

मुमुक्षु :- कीमत नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री :- कीमत नहीं होनेपर भी आये बिना रहता नहीं; कहते हैं। आँगन में आने के लिये ऐसे विकल्प होते हैं। भीतर में प्रवेश करने के लिये फिर विकल्प छोड़ने का। यह जवाहरात की दुकान है, अभी आँगन में खड़े-खड़े भी ये पैसे यहाँ है; ऐसा निर्णय आँगन में खड़ा-खड़ा अंदर जाने से पहले करे, फिर उसे छोड़कर अंतर में जाय। आहा..हा.. ! वह निर्णय यथार्थ नहीं है तो भी प्रथम ऐसा आता है। वीतरागी ने जो आत्मा कहा और अज्ञानी जिसे आत्मा कहते हैं उसमें अंतर (है) इसलिये निर्णय करना आवश्यक है। भगवान सर्वज्ञ केवली ने बतलाये हुए आत्मा। अज्ञानी लोग अपनी कल्पना द्वारा जो आत्मा, आत्मा की बातें करते हैं वह नहीं। ऐसा निर्णय करने के लिये विकल्प सहित का निर्णय होता है। फिर विकल्प छोड़कर अनुभव करना इसका नाम सम्यग्दर्शन है। विशेष कहेंगे।

पूज्य सोगानीजी के प्रति उद्गार

अंदरूनी स्थिति बहुत मजबूत थी और तो और पुरुषार्थ द्वारा अंतरंग स्थिति को और मजबूत करते हैं। एकावतारी हैं। यहाँ से देवलोक में गये हैं, मनुष्य होंगे, चरमशरीरी मनुष्य होंगे। आखरी भव, चारित्र में आकर अल्पकाल में परिपूर्ण दशा को प्राप्त करेंगे। ऐसी स्थिति है।

(परमागमसार - २६५, SR-१२२, ४० मिनट पर, दि.६-६-१९८३ पर हुए प्रवचन से)



सोगानीजी के पत्र में आया है कि, गुरुदेवश्री के सत्संग की उन्हें बहुत ही तीव्र भावना रहती थी, यहाँतक की कभी कभार तो सत्संग के अभाव में आँसू निकल जाते थे। ज्ञानदशा में ऐसी परिस्थिति थी। एकतरफ अंतरंग में तीव्र परिणति, दूसरी तरफ सत्संग का अभाव, तीसरी ओर प्रवृत्ति में उदय के प्रति उदासीनता। ऐसे तीन पहलू हैं।

(श्रीमद् राजचंद्र - ३९४, SR-१९८, २५: मिनट पर, दिनांक २७-१२-१९८९ के प्रवचन से)



वे (सोगानीजी) तो इतने पात्रतावान थे (कि) (गुरुदेवश्री) को पहचान लिया और चौबीस घंटे के पहले तो खुद अनुभव में आ गये। इतनी तीव्र असाधारण भावना लेकर आये थे। जैसे कोई बहुत उबाले हुए दूध में जावण मिलाते ही जम जाय, दहीं जम जाय, ऐसा उनका था। ज्ञान और राग भिन्न हैं, जैसे ही सुना कि भिन्न पड़ गये। उनकी तो बात ही असाधारण है!!

(श्रीमद् राजचंद्र-४६०, SR-१७०, २५ मिनट पर दिनांक : २-६-१९९० के प्रवचन से)



कितनी आश्रयभक्ति व्यक्त हुई है। एकदम दृष्टि की उग्रता होने पर भी भक्ति के परिणाम भी यहाँ तक हुए हैं कि, सोनगढ़ की धूल के लिये भी तड़पता हूँ। जहाँ गुरुदेवश्री बिराजमान हैं उस भूमि का भी उन्होंने इतना महिमा किया है!! इतनी भक्ति की है।

(श्रीमद् राजचंद्र-५११, SR-२१४, ०७ मिनट पर दिनांक : १९-९-१९९० के प्रवचन से)



योग्यता तो बहुत थी। फिर भी सत्संग का कितना तीव्र आकर्षण है। यह उनके पत्र में जो भक्ति प्रदर्शित होती है वह असाधारण है। ऐसा (लिखते हैं कि,) सोनगढ़ से निकलने के बाद तो वहाँ की धूल के लिये भी तड़पना पड़ता है ऐसी परिस्थिति यहाँ आकर प्रत्यक्ष अनुभवगोचर हो रही है। अनुभव को लिखते हैं, कितनी भक्ति होगी! भजन गाना वह भक्ति नहीं है, यह भक्ति सच्ची भक्ति है। पद गाना सो भक्ति नहीं है। आश्रम में जाकर निवृत्ति लेकर रहना और वहाँ पद गाना वह भक्ति नहीं है, यह भक्ति सही भक्ति है।

(अध्यात्मसुधा-३, पन्ना-५२९)



द्रव्यदृष्टि प्रकाश ग्रंथमें से चयन किये गये वचनमृत

दृष्टि का परिणमन और दृष्टि का विषय :-

अरे भाई ! तू अपने सारे के सारे असंख्य प्रदेश में चैतन्यमूर्ति हो, उसीमें बैठे रहो न ! उठकर कहाँ जाते हो ? ११५.



शुभराग को कर्तव्य मानने की तो बात ही कहाँ ? 'मेरा' तो कोई कर्तव्य ही नहीं, ऐसा पहले पक्का होना चाहिए। (ध्रुव में कर्तव्य कैसे हो सकता है ? 'मैं तो ध्रुवतत्त्व हूँ।') १५९.



इधर (स्वद्रव्य में) दृष्टि जम गयी.... बस, वही मुक्ति है; मुक्ति करनी नहीं है। १६१.



वस्तु वर्तमान में प्रत्यक्ष स्थित है, वर्तमान में ही विद्यमान है। एक समय की पर्याय के पीछे पूर्ण वस्तु स्थित है; लक्ष्य करे उसी क्षण दिख जाती है। (अर्थात् वेदन में आ जाती है।) १८०.



'वर्तमान में ही कृतकृत्य हूँ' - ऐसी दृष्टि अपनी वस्तु में हुयी, तो करूँ...करूँ - ऐसी कर्तृत्व बुद्धि छूट गयी.... बस ! यही मुक्ति है। १९१.



"शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन स्वयं ज्योति सुख धाम" - कैसी सुंदर बात श्रीमद्जीने की है ! एक पंक्ति में सब बा आगई। बस, भाई ! तू इतना ही विचार (ज्ञान) कर। १९७.



'मैं अधिक हूँ' - यही स्वयं का महात्म्य भाव है। 'मैं' कोई भी भावमें - विकल्प में खिसकता नहीं, तणीजता (खींचिजता) ही नहीं, वैसा का वैसा और वहीं का वहीं हर समय रहता हूँ; विकल्प के साथ, परिणाम के साथ, खिसकता ही नहीं हूँ। क्या दर्पण का दल क्षणिक आकार में खिसकता है (आता है) ? - वैसा का वैसा ही रहता है। ऐसे ही, 'मैं' भी सदा वैसा का वैसा रहता हूँ। १९९.



अरे भाई ! 'तू' एक समय की पर्याय में आ नहीं जाता है। 'तू' तो अनंती पर्यायों का पिण्ड है; यदि 'तू' एक पर्याय में आगया तो अन्य सभी पर्यायों विधवा हो जायेंगी। २०३.



'मैं' ऐसा अपरिणामी (ध्रुव) पदार्थ हूँ कि तीनों लोकों के सभी पदार्थ इकट्ठे होकर भी मुझे हिला-डुला नहीं सकते। २०६.



साधक-बाधक - ये सब तो पर्याय का ज्ञान करने के लिए हैं। सबलाईका (अनंत वीर्य के

पिण्डरूप का) चश्मा लगाए बिना, नबलाई का भी (यथार्थ) ज्ञान नहीं होता है। साधकपना - बाधकपना तो पर्याय की बात है, 'हमें' तो साधकपने-बाधकपने की भी दरकार नहीं है, क्योंकि बाधकपना 'मुझे' (त्रिकाली को) नुकसान नहीं पहुँचा सकता और साधकपना लाभ नहीं कर सकता; तो फिर इनका विचार क्यों ? २०७.



पात्रता का लक्षण :-

प्रश्न :- प्रथम पात्रता का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :- अपने द्रव्य में दृष्टि को तादात्म्य करना, प्रसारना। बाह्य में तादात्म्य कर रही दृष्टि को अपने में तादात्म्य करना, यही प्रथम पात्रता है। २०.



योग्यता हो तो सुनते ही सीधे अंदर में उतर जाते हैं, इसलिए कहते हैं कि 'ऐसी उनकी काललब्धि'। तो अज्ञानी कहता है कि अरे, पुरुषार्थ को उड़ा दिया ! पर, अरे भाई ! पुरुषार्थ इससे जुदा थोड़े ही है ? ! कोई स्वच्छंता न कर लेवे, इसलिए 'पुरुषार्थ करना' ऐसा कहा है। त्रिकाली में अपनापन होने में पुरुषार्थ होता ही है। लेकिन यह (ऐसा पुरुषार्थ कि) पर्याय जितना 'मैं' नहीं हूँ, 'मैं तो त्रिकालीदल ही हूँ।' ११३.



योग्यता और पात्रता ठीक (उत्कृष्ट) होवे तो एक ही क्षण में काम हो जाये, ऐसी बात है। १८३.



बात सुनते ही चोट लगनी - यह भी एक पात्रता है। ४२१.



'मैं वर्तमान में ही परिपूर्ण हूँ' - ऐसा सुनते ही, कुछ करना - कराना है ही नहीं - ऐसा उल्लास तो प्रथम से ही आना चाहिए; और फिर उसी की पूर्ति के लिए प्रयास करना है। ४२७.



अपने से अपनी पात्रता मालूम हो जाती है; दूसरा कहे, न कहे - इससे मतलब नहीं है। द्रव्य स्वतंत्र है न ! इसको पर की अपेक्षा ही नहीं है। ४७६.



मुमुक्षुता की भूमिका :-

पहेले तो (तत्त्व की) धारणा बराबर होनी चाहिए। लेकिन धारणा अंतर में उतरे तभी सम्यग्ज्ञान होता है। धारणा में भी इधर का (आत्मा का) लक्ष्य होना चाहिए। (धारणा स्वलक्ष्यी होनी चाहिए। स्वलक्ष्यी धारणा प्रयोग की उत्पादक होती है। और प्रयोगान्वित धारणा में धारणा किया हुआ उपदेश जब अंतर में उतरता है तभी सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होता है।) २४.



विकल्प से और मन से (परलक्ष्यीज्ञान में) किया हुआ निर्णय सच्चा नहीं। अपनी ओर दृष्टि को तादात्म्य करनेपर ही अपने से किया हुआ निर्णय सच्चा होता है। पहले विकल्प से - अनुमान

से (स्वलक्ष्यीज्ञान में) निर्णय हो, उसमें भी लक्ष्य तो अंतर में ढलने का ही होना चाहिए। ४९.



तीव्र प्यास (जिज्ञासा) लगनी चाहिए। प्यास लगे तो जैसे-तैसे बुझाने का प्रयत्न किये बिना रहे ही नहीं। ६४.



प्रश्न :- पक्के निर्णय बिना 'मैं शुद्ध हूँ', 'त्रिकाली हूँ', 'ध्रुव हूँ', ऐसे-ऐसे अनुभव का अभ्यास करें, तो अनुभव हो सकता है क्या ?

उत्तर :- नहीं ! पक्का निर्णय नहीं, लेकिन यथार्थ निर्णय कहो। यथार्थ निर्णय होनेके बाद ही निर्णय में पक्कापन होता है, फिर अनुभव होता है। ९२.



विकल्प की भूमिका में भी (जिसको) निर्णय नहीं होता, उसको निर्विकल्प निर्णय होने का अवकाश ही कहाँ है ? ११८.



त्रिकाली का पक्ष करो ! ऐसा (अपूर्व) पक्ष करो कि अनंतकाल में कभी हुआ न हो। वर्तमान का पक्ष छोड़ो ! ३२८.



जिसको अपना सुख चाहिए उसे, अपना सुख जिनको प्रकटा है, उनके पास (सर्वार्पण बुद्धिपूर्वक शरण में) जानेका भाव आता है। ५०१.



पुरुषार्थ का स्वरूप :-

संसार में हर विषय में प्रयास करते हो तो इधर का (अंतर में स्वरूप का) प्रयास भी करो न ! इस प्रयास में तो उत्कृष्ट शुभभाव होता है, जो अन्य किसी जगह नहीं होता। यह भी है तो कृत्रिम प्रयास, लेकिन अकृत्रिम प्रयास के पहले यह भी आए बिना नहीं रहता। ३०८.



प्रश्न :- प्रयास तो करना चाहिए न ?

उत्तर :- अरे भाई ! कृत्रिम प्रयास से क्या होगा ? - उसपर वजन नहीं आना चाहिए। 'मैं वर्तमान में ही निष्क्रिय चैतन्य हूँ' वहाँ (स्वरूप में) आया तो पर्याय में प्रयास सहज उठता ही है। 'मैं' तो अनंत पुरुषार्थ की खान हूँ न ! एक समय के प्रयास में थोड़े-ही आ जाता हूँ ?

३२४.



सहज पुरुषार्थ में थकान नहीं लगेगी। सोने आदि के भाव में भी दुःख लगेगा, निद्रा में थी थकान लगेगी। (सहज पुरुषार्थ के साथ सहज निराकुलता अविनाभावी रूप से रहती है; अतः सोने आदि के भाव में तथा निद्रा में भी थकान मालूम पड़ती है, ऐसा ही सहज पुरुषार्थ का स्वरूप है। स्वस्वभाव के अवलंबन में निर्विकल्प सुख सहज वर्तता है; जबकि स्वरूप के - विश्रामधाम के - अवलंबन को छोड़कर शरीराश्रित विश्राम के विकल्प में सुख कैसा ? वह विकल्प तो स्वयं

ही दुःखरूप है।) ३६२.

पुरुषार्थ तो चारित्र में है, दृष्टि में क्या पुरुषार्थ !

प्रश्न :- क्या दृष्टि में पुरुषार्थ नहीं है ?

उत्तर :- दृष्टि में पुरुषार्थ तो है, लेकिन चारित्र की अपेक्षा से बहुत कम पुरुषार्थ है। चारित्र में तो बड़ा पुरुषार्थ है। (जिस पुरुषार्थ से सम्यग्दर्शन होता है उसकी तारतम्यता तथा मुनिदशायोग्य पुरुषार्थ की तारतम्यता में कितना बड़ा अंतर है, वह सम्यग्दृष्टि को ही मालूम पड़ता है। परंतु मिथ्यादृष्टि को पुरुषार्थ विषयक ऐसा ज्ञान नहीं होता।) ३८०.



पुरुषार्थ के धाम में पुरुषार्थ जम गया, वही पुरुषार्थ है। ५०५.



ध्यान ध्येय :-

विचार आदि तो पर्याय का स्वभाव होनेसे चलता ही रहता है, परंतु जोर ध्येय स्वभाव की ओर रहता है तो परिणति (अंतर में) ढल जाती है। ५३४.



‘मैं’ ध्येय स्वरूप हूँ। परिणाम ‘मेरा’ ध्यान करता है। ६२१.

सम्यक्ज्ञान की प्रवृत्ति :-

शुद्ध जीवास्तिकाय की दृष्टि बिना, शास्त्र में जो कथन आते हैं उनकी कितनी हद तक मर्यादा है ? - वह समझ में नहीं आता। और दृष्टि होनेपर ज्ञान में सहज ही सब बातें समझ में आती हैं। १६६.



अपन तो अपने ही सुख-धाम में बैठे रहें, जमे रहें...बस !- यही एक बात कायम रख करके, दूसरी-दूसरी सभी बातों को खतिया लो। १८८.



दृष्टि खुले बिना शास्त्र का अर्थ भी यथार्थरूप से खतिया नहीं सकते। खतियाने में इधर की (-आत्मा की) मुख्यता कभी गौण नहीं होनी चाहिए; इधर की मुख्यता कायम रखकर ही सब कथन खतिया ने चाहिए। १९३.



परिणाम का कार्य परिणाम करेगा, तुम उसकी दरकार छोड़ो; तुम तो अपने नित्यघर में ही बैठे रहो। अपने घर में (द्रव्यस्वभाव में) बैठे, तो सब सहज ही सहज है। परिणाम का चश्मा (पर्याय में ‘मैं-पना’) लगाया हुआ हो तो (स्वयं) परिणामरूप ही भासता है, अपरिणामी नहीं भासता।

१९८.



‘मैं निष्क्रिय हूँ’ - यह चश्मा तो सदा ही लगाए रखना चाहिए। दूसरा चश्मा लगाते समय भी, यह चश्मा तो लगाए ही रखना चाहिए; इसके बिना तो कुछ भी दिखलाई नहीं देगा। (यहाँ चश्मा शब्द का वाच्य ‘दृष्टिकोण’ है।) २०५.

द्रव्यदृष्टि प्रकाश पत्रांक-२२ पर पूज्य भाईश्री शशीभाई का प्रवचन, दि.३१-७-१९९१

(प्रश्न को) दोहराया है।

प्रश्न :- आपका ही पत्र है ?

समाधान :- हाँ।

‘किस प्रकार आत्मा अपनी ओर पुरुषार्थ की वृद्धि करने का प्रयोग करता है ?’ प्रयोग विषयक (प्रश्न है) पुरुषार्थ की वृद्धि करने का प्रयोग क्या ? सीधा प्रश्न यह है। ‘आपके इस प्रश्न पर मेरा तो इतना ही लिखना है कि प्रथम की यथार्थ श्रद्धा समय, श्रद्धा की पर्याय का अखण्ड की ओर जो झुकाव अथवा लीनता का पुरुषार्थ होता है उसमें कालभेद नहीं है...’ अर्थात् क्या है कि पहले जब शुरुआत में श्रद्धा प्रगट होती है, शुरुआत होती है, तब जिस पुरुषार्थ के कारण श्रद्धा की पर्याय अखण्ड आत्मतत्त्व की ओर झुकती है और उस समय जीव, स्वरूप में स्थिर हो जाता है, उसमें कालभेद नहीं है, श्रद्धा प्रगटे और स्वरूप में स्थिरता प्रगटे, (दोनों) एक ही काल में प्रगटते हैं। उस समय को जो पुरुषार्थ है, अर्थात् श्रद्धा का पुरुषार्थ कहो, वह पुरुषार्थ होता है। ‘उसमें कालभेद नहीं है व यथार्थ श्रद्धा में जो पुरुषार्थ का प्रयोग है...’ और उस काल में जो पुरुषार्थ जिस प्रयोग से हुआ ‘बारम्बार उसी प्रयोग की वृद्धि होती रहती है...’ अर्थात् पहले समय जो पुरुषार्थ हुआ, उसी प्रकार का पुरुषार्थ सहज वृद्धिगत होता रहता है। जिस पुरुषार्थ से श्रद्धा होती है, उसका जो प्रयोग होता और पुरुषार्थ में वृद्धि हो, उसका जो प्रयोग हों, वह दोनों एक ही हैं - ऐसा कहना है।

प्रश्न : श्रद्धान और चारित्रकी अपेक्षा से एक परिणाम हैं ?

समाधान :- नहीं, ऐसा नहीं। यहाँ कहना क्या है ? प्रश्न पुरुषार्थ सूचक है कि अपने पुरुषार्थ में वृद्धि करने का प्रयोग क्या ? किस प्रकार

होते ? आत्मा किस प्रकार (पुरुषार्थ) करें ?

मुमुक्षु :- पुरुषार्थ को मुख्य करके बात करते हैं।

पूज्य भाईश्री :- हां, पुरुषार्थ विषयक प्रश्न है कि परिणाम में पुरुषार्थ की वृद्धि किस प्रकार हो ? कि प्रथम जिस प्रकार पुरुषार्थ जाग्रत हुआ, और श्रद्धा हुई, और लीनता हुई, यह सब एक ही काल में हुआ, तो यह जो श्रद्धा का पुरुषार्थ (हुआ), उस समय भी प्रयोग, पुरुषार्थ (हुआ।) प्रयोग और पुरुषार्थ अविनाभीवी है। प्रयोग है। इसलिए पुरुषार्थ का प्रकरण शुरू हुआ। पुरुषार्थ, प्रयोगकालमें होता है, इसलिए प्रयोग और पुरुषार्थ अविनाभावि है। ‘परमागमसार’ में ३०४ नं. का बोल है।

प्रश्न :- इस प्रयोग और पुरुषार्थ को एक ही कहें तो ?

समाधान :- एक नहीं है, इसलिए कि प्रयोग है, उसमें भिन्न-भिन्न प्रयोग होते हैं; पुरुषार्थ में भिन्न भिन्न प्रकार नहीं होते। दो अविनाभावी हैं।

प्रश्न :- प्रयोग को चारित्र की मुख्यता में लेना ?

समाधान :- प्रयोग है न, उसमें एक गुण का कार्य नहीं है, प्रयोग में एक गुण का कार्य नहीं है। समस्त मुख्य गुणों की प्रवृत्ति उस प्रयोगकाल में होती है। दृष्टान्तरूप से हम ऐसा नहीं कहते कि भाई ! प्रयोग किस प्रकार करना ? तो उदयकाल में प्रयोग करने में आता है कि मधुर लगा और अच्छा लगा, तो लगा कि ज्ञान हुआ ? कि वस्तुतः ज्ञान हुआ है, मधुरपना आत्मा में लगा नहीं है, चिपटा नहीं है, आत्मा को - ज्ञान को मीठा किया नहीं है, ज्ञान में मात्र मधुरता का जानना हुआ है तो मात्र ज्ञान हुआ है ऐसा



अपने भाव में लेने के लिए थोड़ा बल करना पड़ता है। उल्टे बल के सामने सीधा बल है। मीठा लगता है यह उल्टा बल है और मात्र ज्ञात होता है - यह सीधा बल है, परन्तु उसमें ज्ञान भी है और पुरुषार्थ भी है, दोनों हैं और लगने से जो राग हुआ (कि) 'मीठा मुझे अच्छा लगा' - ऐसा जो अच्छेपनरूप राग हुआ, उस राग को तोड़ने की एक प्रक्रिया है, प्रयोग से राग को तोड़ने की एक प्रक्रिया है। इस प्रयोग से राग न टूटे तो राग का रस तो टूटे, टुटे और टूटे ही। यह प्रयोग इतनी Solid वस्तु है कि यह व्यर्थ नहीं जाती। (परमागमसार का) ४०३ नहीं, किन्तु ३०४ (नंबर का बोल है)।

प्रश्न :- राग की अपेक्षा द्वेष में अधिक बल से प्रयोग हो सकता है न ?

समाधान :- रस की तीव्रता होती है, द्वेष में रस की तीव्रता होती है।

प्रश्न :- तब प्रयोग अधिक हो सकता है कि मुझे ज्ञान ही होता है ?

समाधान :- प्रयोग तो जब बलवानपने जितना करे, उतना लाभदायी है। राग में, द्वेष में रस बड़े तब। 'गुरुदेव' का वचन यह है - ३०४ नम्बर।

'इस वस्तु के लिए प्रयोग करने हेतु...' यह जो बाबत है - आत्मा के हित का हेतु है, उसे प्रयोग में लाने के लिये 'अन्दर से मूल से पुरुषार्थ का उफान आना चाहिए।' पुरुषार्थ के बिना प्रयोग शुरु नहीं होता। जो कोई जीव प्रयोग में आता है, इसका अर्थ कि उसने अब पुरुषार्थ शुरु किया, उसने पुरुषार्थ का प्रारम्भ किया; इसलिए प्रयोग और पुरुषार्थ अविनाभावी है।

तत्पश्चात् प्रयोग में क्या विभिन्नता आती है ? कि उदय जितना फिरता है, उतने प्रकार के प्रयोग बदलते हैं। हमने यह खाने का दृष्टान्त लिया, इसमें रसना इन्द्रिय है। (ऐसे) किसी भी उदय के समय पंचेन्द्रिय सम्बन्धी और मन सम्बन्धी किसी

भी विषय के समय ज्ञानमात्र से सावधानी पकड़ना और उस प्रकार के विभाव के रस को अथवा विभाव को तोड़ना, वह पुरुषार्थ का कार्य है और यह प्रयोगकाल में होता है - ऐसा है।

यहाँ तो प्रश्न इस प्रकार लिया है कि यदि तुम्हारा पुरुषार्थ उग्र है तो तुम्हारा प्रयोग क्या है ? वहाँ पूछने का यह आशय है। तुम्हारा पुरुषार्थ उग्र दिखता है तो तुम्हारा प्रयोग क्या चलता है ? उन्होंने General उत्तर दिया है कि जब श्रद्धा परिणमी और निर्विकल्प स्थिरता आयी, तब पुरुषार्थ से आयी न ? और वह किसी प्रयोग से आयी है। इसमें भेदज्ञान का प्रयोग है। वहाँ फिर पाँच इन्द्रियों के विषयों का प्रयोग नहीं, परन्तु एक मन का प्रयोग है।

मन का क्या प्रयोग है ? कि वहाँ, मात्र में आत्मा हूँ, मैं ज्ञानस्वरूप हूँ - ऐसा मन का एक विकल्प है और वहाँ उस विकल्प के राग से भी भिन्न ज्ञान है, वहाँ यह प्रयोग है। वहाँ राग से भिन्न भेदज्ञान का प्रयोग चलता है; भेदज्ञान का प्रयोग चलता है, राग से भिन्नता का; तो राग से भिन्नता का जो प्रयोग अनुभवदृष्टि से चलता है कि मुझे क्या अनुभव में आता हैं ? मेरी सत्ता में राग या, मेरी सत्ता में ज्ञान ? मेरी सत्ता में हो, उसका मुझे अनुभव होगा, मेरी सत्ता से बाहर होगा, वह ज्ञात भले हो, परन्तु अनुभव में नहीं आयेगा। क्या बात है ?

जैसे, शक्कर की मीठास ज्ञात अवश्य होती है, परन्तु अनुभूत नहीं होती। यह प्रयोग का विषय है, क्योंकि वह (शक्कर) ज्ञान की सत्ता से बाहर है। इसी प्रकार राग, ज्ञान की सत्ता से बाहर है तो राग ज्ञात भले हो, परन्तु राग अनुभूत नहीं होता। यह जो प्रयोग चलता है, उस प्रयोग से जो लीनता आ गयी, उसमें क्या है कि राग का विषेध और ज्ञान, वह आत्मा की विधि अर्थात् आदर। विधि - निषेध का प्रयोग है। प्रयोग

में विधि-निषेध दोनों हैं; अतः राग का निषेध और ज्ञान से आत्माका आदर अथवा विधि इस विधि में पुरुषार्थ, प्रयोग चलता है, उसमें पुरुषार्थ की उग्रता हो गयी, इसलिए श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र्य का शुद्ध परिणाम आकर लीनता हो गयी; निषेध समाप्त हो गया। निषेध का पहलु समाप्त हो गया। विधि का फल आया - आनन्द उत्पन्न हुआ वह।

उनका यह कहना है कि उस समय जो पुरुषार्थ का प्रयोग है, बारम्बार उसी प्रयोग की वृद्धि होती जाती है। ज्ञानदशा में उस भेदज्ञान के प्रयोग की वृद्धि होती जाती है और पुरुषार्थ उग्र होता जाता है, इसलिए दूसरी भाषा में - दूसरे न्याय से ऐसा कहा जा सकता है कि ज्ञानी क्या प्रवृत्ति करता है ? उनका ध्येय तो शुद्धात्मा है और पूर्णता है - दो ध्येय है। एक आश्रय के लक्ष्य से और एक कार्य - प्रयोजन के लक्ष्य से, प्रयोजन अथवा कार्य के लक्ष्य से। यथार्थ लक्ष्य है, वह तो लक्ष्य तो ध्रुव हो गया। लक्ष्य में कोई बदलाव करने का प्रश्न नहीं है अथवा उसे स्मरण करने का प्रश्न भी नहीं है; स्मृति-विस्मृति से भिन्न है। लक्ष्य च्युत नहीं होता, इसलिए; परन्तु ज्ञानी क्या प्रवृत्ति करता है ? निवृत्त-निवृत्त (करते क्या हैं ?) उन्हें दूसरा कार्य करना नहीं रुचता, उन्हें संसार के कार्य नहीं रुचते। नहीं करें, इसलिए प्रवृत्ति कम होगी, निवृत्ति ले और निवृत्त हो जाए - ऐसा बाहर से लोगों को लगता है कि निवृत्त व्यक्ति है तो ये क्या करते हैं निवृत्त-निवृत्त ? उनकी प्रवृत्ति क्या है ? तो कि भेदज्ञान की प्रवृत्ति करते हैं। सततरूप से भेदज्ञान की प्रवृत्ति और भेदज्ञान का प्रयोग चलता है। उन्हें उदय तो आठों ही कर्मों का है। उदय है, वह प्रयोगशाला है। राग और ज्ञान को पृथक् करने के प्रयोग करने के साधन है और उनसे प्रयोग चला करते हैं। प्रयोगशाला में प्रयोग चालु रहता है, उसमें पुरुषार्थ वृद्धिगत होता है - यह

एक ही प्रकार है।

‘बारम्बार उस ही प्रयोग की वृद्धि होती रहती है,...’ ऐसा कहना है। यह सहज वृद्धि होती है। ‘होती रहती है,...’ इसका अर्थ क्या है ? कि बारम्बार यह भेदज्ञान का प्रयोग चलता होने से पुरुषार्थ की वृद्धि हो जाती है; पुरुषार्थ की वृद्धि होती रहती है, फिर करने का प्रश्न नहीं। ‘उसे वृद्धि का पुरुषार्थ कहते हैं।’ उसे, ज्ञानी ने वृद्धि का पुरुषार्थ किया - ऐसा कहा जाता है। कहना हो तो ऐसा कहा जाता है कि ‘सोगानीजी’ ने बहुत पुरुषार्थ किया, किन्तु वस्तुतः बहुत हुआ है; उसे ‘बहुत किया है’ - ऐसा कहा जाता है। बोलने में (ऐसा आता है।)

मुमुक्षु :- वस्तुतः प्रयोग बहुत किया है।

पूज्य भाईश्री :- प्रयोग भी, हाँ बहुत किया है, परन्तु वह भी सहज चलता है, परन्तु प्रयोग तो सतत चलता ही है, उसे ‘किया’ ऐसा कहते हैं; पुरुषार्थ किया-ऐसा कहते हैं, परन्तु सहजता है।

प्रश्न :- प्रयोग की वृद्धि में पुरुषार्थ की वृद्धि होना - यह सहज है।

समाधान :- हाँ, सहज ही है; क्योंकि प्रयोग और पुरुषार्थ अविनाभावी है। प्रयोग और पुरुषार्थ अविनाभावी है। जो कार्य तुम सतत शुरु रखो, वह कार्य घट्ट होता है और घनिष्ट होता है - यह तो स्वाभाविक बात है। तुम पानी में शक्कर डालते रहो तो पानी में मिठास बढ़ती ही जाएगी। तुमने एक चम्मच शक्कर डाली, तब फीके में से मीठा हुआ; पाँच चम्मच डाली तब अधिक मीठा हुआ और पच्चीस चम्मच डाली तब उससे अधिक मीठा हुआ।

मुमुक्षु :- ज्ञानी को परिणाममात्र में सहजता ही होती है।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, फिर क्या होता है कि जैसे संसार में कैसी सहजता है ? क्योंकि जीव का प्रयोजन है कि अपने संयोग अपने को अधिक

अच्छे करना चाहिए, अपने संयोग अपने को सुधारना चाहिए, अपने संयोग हो, उससे वृद्धिगत होना चाहिए - यह इत्यादि प्रकार तो ऐसे के ऐसे ये हुआ ही करते हैं उनका लक्ष्य करके, संयोग सुधारने का लक्ष्य हो जाता है; इसलिए उसके लक्ष्य से विचार करना पड़ता है ? हो जाते हैं। यह श्रृंखला चला ही करती है। खाते-पीते, उठते-बैठते, सोते यही सब चला करता है। व्यापार करता होवे और जिसे जिस प्रकार का व्यापार होवे, उसे उस प्रकार का उदय होता है, क्योंकि वह प्रयोग भी उदय में ही होता है। उलटा भी उदय में होता है और सुलटा भी उदय में ही होता है। दोनों की प्रयोगशाला तो एक ही है, फिर वह हुआ ही करता है; इसलिए जैसे वह सहज हो जाता है, वैसे ही यह भी सहज हो जाता है। लाइन बदल गयी है - इतना ही।

मुमुक्षु :- सम्पूर्ण लक्ष्य पूर्णता पर है, इसलिए।

पूज्य भाईश्री :- बस ! परिणमन तो जीव का स्वभाव है, वस्तु का स्वभाव है। अब, जिस और का लक्ष्य होता है, उस ओर का परिणमन सहज-सहज ही हुआ करता है; कुछ परिणमन तो करने का नहीं है कि नहीं होता वह करना है, परन्तु किस ओर होता है - इतना ही प्रश्न है इतना प्रश्न किस कारण है ? कि जिसके कारण लक्ष्य है, उसके कारण उस परिणमन का प्रवाह चलनेवाला है।

मुमुक्षु :- प्रयोग और पुरुषार्थ का अच्छा स्पष्टीकरण आया।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, पठन में किया है, परन्तु ध्यान नहीं गया हो, वरना किसी-किसी समय पठन में यह बात स्वाध्याय में लेते हैं, तब प्रयोग और पुरुषार्थ की बात आती है। संक्षेप में आ जाती है, परन्तु यह तो बहुत स्पष्ट बात है।

उसमें भी लिया है - निर्भ्रात दर्शन की पगदण्डी के पहले प्रकरण में यह बात ली है।

प्रयोग और पुरुषार्थ सम्बन्धी स्पष्टता की है। ध्यान गया हो, न गया हो, परन्तु (स्पष्टता) की है, वहाँ भी की है, ख्याल है, क्योंकि वहाँ तो ३०४ बोल का यह आधार भी दिया है। यह चर्चा की, तब फिर 'गुरुदेव' के वचन का आधार भी दिया है कि 'गुरुदेव', प्रयोग और पुरुषार्थ (सम्बन्धी) बात इस प्रकार करते हैं। चर्चा की है और फिर आधार दिया है।

'पहले के व बादके पुरुषार्थ के प्रकार में कोई प्रकार का फ़र्क नहीं है।' क्या है कि पुरुषार्थ की विधि या प्रकार नहीं बदलता, जाति नहीं बदलती, रीति नहीं बदलती; वह एक ही रहती है; मात्र बढना - घटना इतना ही अन्तर है, तारतम्य भेद है, क्वालिटी का अन्तर नहीं है। 'इस ही लिये गुरुदेवश्री का यथार्थ समझ पर बारम्बार जोर रहता है, कारण इस प्रथम समझ में ही भविष्य का सम्यक् पुरुषार्थ गर्भित है।' अर्थात् पुरुषार्थ का उत्पादक ज्ञान है - ऐसा कहना है। ज्ञान है, वह पुरुषार्थ का उत्पादक है, इसलिए तो ज्ञान को साधन कहा है। ज्ञान से रुचि उत्पन्न होती है और रुचि अनुयायी पुरुषार्थ है; पुरुषार्थ रुचि का अनुसरण करके होता है। तो ज्ञान से रुचि कैसे होती है ? कि जहाँ सुख वहाँ रुचि। पर में सुख है - ऐसा ज्ञान है, समज है, वहाँ तक रुचि पर की है और पुरुषार्थ भी पर सम्बन्धित पर को अनुसरता है।

जब ज्ञानीपुरुष ने यह कहा कि सुख अन्तर में है। हे जीव ! भ्रमित मत हो ! सुख अन्तर में है, बाहर में नहीं। यह 'श्रीमद्जी' का बहुत सुन्दर वचन है - हे जीव ! भ्रमित मत हो ! सुख अन्दर में है, सुख कहीं बाहर में नहीं है। और जब जीव को अन्तर में सुख भासित हुआ, तब उसकी रुचि उस ओर हुई सुख की रुचि तो होनी ही है, करनी नहीं पड़ती। रुचि करनी नहीं पड़ती और करी हुई होती भी नहीं। वह

तो ज्ञान में सुख दिखाई दे - इस पर आधारित है। ज्ञान में जहाँ सुख भासित होता है, वहाँ रुचि होती है और रुचि होती है, वहाँ पुरुषार्थ हुए बिना नहीं रहता। पुरुषार्थ को रोका नहीं जा सकता; इसलिए जहाँ ज्ञान में सुख भासित होता है; सुख भासित होता है अर्थात् सुख की रुचि होती है तो उसकी प्राप्ति का पुरुषार्थ भी सहज उत्पन्न होता है। यह वैज्ञानिक परिस्थिति है।

मुमुक्षु :- संक्षिप्त में बहुत अच्छी बात की !

पूज्य भाईश्री :- हाँ, (उनके) पत्रों में बहुत तत्त्व भरा है। 'गुरुदेव' कोई उपर से कुछ मान्य करें - ऐसा नहीं है। कोई होवे, और प्रत्यक्ष सामने होवे तो भी मान्य नहीं करते, यह तो परोक्षता में मान्य किये हैं। यह कोई ऐसी वैसी बात नहीं है। प्रत्यक्ष व्यक्ति होवे और बहुत लोग उसे ज्ञानीरूप में मानने को तैयार हुए हों तो भी 'गुरुदेव' नहीं मान लेते; कह देते हैं, जो हो वह कह देते हैं। उसमें कुछ गड़बड़ नहीं रखते। यह तो परोक्ष - मात्र उनकी शब्ददेह, अक्षरदेह रही है और मान्य किया है। यह कोई साधारण बात नहीं है। इसके अंदर कितना भरा है - यह स्वयं को बराबर ज्ञात है और सम्यक् सन्मुख की और मुमुक्षुता पात्रता की सब चर्चा 'गुरुदेव' के साथ बहुत की है। मुझे तो पता है - 'गुरुदेव' को इस विषय पर कितना स्पष्ट, अपने विचार की गहराई में विषय कितना स्पष्ट था - ऐसा याद है कि उन्होंने किसी प्रश्न का उत्तर विचार करके दिया हो - ऐसा नहीं लगा कि प्रश्न पूछें तो थोड़ी देर - सैकेण्ड, दो सैकेण्ड विचार करके रुकें और फिर जवाब दें - ऐसा नहीं देखा। जितनी शीघ्रता से प्रश्न पूछा हो, उतनी शीघ्रता से उत्तर सामने आया है। इतने ही वे स्वयं अपने इस विषय में स्पष्ट हैं।

सम्यक् सन्मुख की चर्चा का एक दृष्टान्त दूँ। अपनी बात तो हो गयी है कि ज्ञान है, वह

निर्णय करता है, तब वह ज्ञान बढ़ते - बढ़ते, ज्ञानबल बढ़ते बढ़ते सम्यग्दर्शन और अनुभव तक पहुँचता है, तो उस ज्ञान को जात्यान्तर कहा जाएगा या नहीं ? तो (कहा) कि ऐसा शास्त्रशैली से नहीं कहा जाता, परन्तु है एवश्य। वहाँ श्रद्धा कैसी है ? कि श्रद्धा मिथ्या है। दूसरा प्रश्न एकदम बीच में से निकाला हो तो उसी सैकेण्ड में सामने उत्तर दे दें; विचार करके नहीं देते कि यहां इतना ज्ञान को सुलटा कहा तो अब श्रद्धा को क्या कहना ? जरा सा विचार कर कहें - वहाँ मन्द मिथ्यात्व है। सीधा जवाब क्या दिया ? वहाँ मन्द मिथ्यात्व है - ऐसा कहा। ऐसे शब्द थे।

मुमुक्षु :- मन्द मिथ्यात्व है।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, वहाँ मन्द मिथ्यात्व है - ऐसा कहा। अनुभाग घट गया है न ! वहाँ मन्द मिथ्यात्व है। कैसा भी सूक्ष्म विषय हो, कैसी भी सूक्ष्म चर्चा हो तो विचार करके उत्तर देना पड़े - ऐसी उनकी स्थिति नहीं देखी। पूछा (तो) विषय क्या चलता है - उन्हें पता है, इसलिए किसी विषयान्तर से उत्तर आने का तो प्रश्न ही नहीं। ज्ञान विषयक प्रश्न होवे तो ज्ञानविषयक उत्तर आयें, श्रद्धा विषयक प्रश्न हो तो श्रद्धा विषयक, पुरुषार्थ विषयक प्रश्न हो तो पुरुषार्थ विषयक To the point और एकदम उसी समय (उत्तर दें।) स्वयं को तो बहुत स्पष्टता वर्तती है। यह सोगानीजी ने भले ही संक्षेप में लिखा हो, उन्हें तो विषयगत स्पष्टता इतनी अधिक वर्तती है कि उसमें कोई उन्हें कहना नहीं पड़ता कि इसमें 'गुरुदेव' ने क्यों ऐसा Certificate दिया होगा ? ऐसा है।

मुमुक्षु :- बहुत बार तो सामनेवाला प्रश्न पूछे, वहाँ प्रश्न अधूरा हो, तभी उत्तर शुरु हो जाए।

पूज्य भाईश्री :- यह तो पता होता है न कि इसका प्रश्न कहाँ बैठकर पूछता है और क्या

पूछता है - यह तो पता होता है न ! इतनी तो ज्ञान में विशेषता है। सामान्य सन्दर्भों में तो सहज ही ख्याल में आ जाए, परन्तु यह तो सूक्ष्म विषय चलता हो तो भी विचार में नहीं रुकते कि विचार करके जवाब दे। पूछा नहीं कि जवाब आया नहीं।

मुमुक्षु :- समझ शब्द के पहले यथार्थ विशेषण लगाया है, उसमें कितने न्याय भर दीये हैं !

पूज्य भाईश्री :- हाँ, इसके लिए यथार्थ समझ पर (वजन दिया है) समझ पर नहीं कहा, किंतु यथार्थ समझ पर 'गुरुदेव' का वजन रहने का कारण यह है कि भविष्य का सम्यक् पुरुषार्थ इस यथार्थ समझ में गर्भित है, इसलिए उन्होंने भी उत्तर दिया और उस उत्तर में पुरुषार्थ का स्पष्टीकरण देने के बाद सबका मूल क्या है - यह बात भी कर दी और 'गुरुदेव' की साक्षी दे दी।

'सोगानीजी भी बहुत विचक्षण थे। यथापि उनका पुरुषार्थ भी इतना था, परन्तु विचक्षणता भी बहुत थी। कोई समय तो ज्ञान का इतना विकास न हो, क्योंकि उन्हें उतना गुरुदेव का सत्संग नहीं था।' परन्तु फिर भी आगे एक पत्र आयेगा पुरुषार्थ का और यह सब। पत्र में पुरुषार्थ विषयक, ज्ञान विषयक, श्रद्धा विषयक अलग-अलग प्रश्न हैं। 'बहुत विचक्षणता से उत्तर दिया है। असाधारण विचक्षणता से उत्तर दिया है।' उसका तो गुजराती करना था, वह भी कठिन पड़ गया था। (एक मुमुक्षु भाईने) गुजराती किया है और पूर्व में छपा है - आध्यात्मिक पत्र 'पूज्य निहालचन्द्रजी सोगानी के आध्यात्मिक पत्र' गुजराती (वे भाई) इस पत्र में उलझन में आये थे। दूसरे-दूसरे विद्वानों के पास गये, परन्तु सभी असमंजस में; (फिर मेरे पास आकर कहा कि) गुजराती में कुछ मेल नहीं बैठता; इस में क्या कहना चाहते हैं - यह समझ में नहीं आता

तो गुजराती कैसे करना ? भाषा रही हिन्दी, फिर गुजराती कर दिया कि ऐसा कहना चाहते हैं। अब, देखो ! ऐसा लिखने से सब बैठ जाएगा।

मुमुक्षु :- एक वचन में अनन्त आगम समाहित है, उसकी प्रतीति होती है।

पूज्य भाईश्री :- सही बात है।

'अखण्ड ज्ञानघन पुरुषाकार (देहाकार) शरीर, कर्म, भावकर्म व शुद्धपर्याय से भी गहरा चैतन्य तत्त्व 'मैं' हूँ, यह ही मेरा अस्तित्व है, शुद्धपर्याय का अस्तित्व भी इसमें गौण है; ऐसी प्रथम यथार्थ श्रद्धा जब ही कही जाती है कि ऐसी श्रद्धा के प्रसार के साथ ही लीनता का प्रथम आत्मानुभव होता है।' अब, उस पुरुषार्थ के विषय में थोड़ा अधिक स्पष्टीकरण देना है कि पहले ऐसा कहा कि जो पुरुषार्थ होता है, इसी प्रकार से; इसी प्रकार से अर्थात् उसका वही है; सहज वृद्धि होती जाती है। ठीक है ? तो अब वह श्रद्धा किस प्रकार होती है ? जिस पुरुषार्थ से श्रद्धा परिणमित होती है, वह श्रद्धा किस प्रकार से होती है - उसका विस्तार करते हैं।

'अखण्ड ज्ञानघन पुरुषाकार...' अब जो देहाकार, पुरुषाकार अर्थात् देहाकार ऐसा। मनुष्याकार, अभी मनुष्य की चर्चा, बात चलती है, इसलिए भी; वह तो तिर्यच होवे तो तिर्यच; देव होवे तो देव; नारकी होवे तो नारकी - इस प्रकार ले लेना कि शरीर का जो माप है, उसी प्रमाण में चैतन्यबिम्ब का माप है, क्षेत्र अपेक्षा से उतना है; उससे बाहर भी नहीं है और उससे कम भी नहीं है, और वह अखण्ड ज्ञानघन है। जो सम्पूर्ण आत्मपिण्ड है, वह अखण्ड ज्ञानघन है। कहीं खण्डितपना नहीं है और निबिड़ ज्ञान है कि जिसकी निबिड़ता भी बेहद है अथवा असीम है, सीमा नहीं इतना (है।) इतना ज्ञानघन पुरुषाकार में अर्थात् शरीराकार में; तथापि शरीर कर्म, भावकर्म, शरीर,

कर्म, भावकर्म और शुद्धपर्याय से भी गहरा (है) क्योंकि शुद्धपर्याय भी उत्पाद-व्यय है। यहाँ पारिणामिकभाव लेना है, इसलिए शुद्धपर्याय निरपेक्ष ऐसा लेना।

‘शुद्धपर्यायसे भी गहरा चैतन्य तत्त्व ‘मैं’ हूँ,...’ यह पारिणामिकभाव अथवा मूल ध्रुव स्वभाव। ‘चैतन्य तत्त्व ‘मैं’ हूँ, वह ही मेरा अस्तित्व है,...’ यह मेरी अस्ति, मेरा अस्तित्वगुण, मैं मेरी अस्तित्व शक्ति यहाँ है अर्थात् यह मेरा अस्तित्व है। ‘शुद्धपर्याय का अस्तित्व भी इसमें गौण है;...’ भले ही शुद्धपर्याय मैं अस्तित्व अनुभव में आता है, मौजूदगी का अनुभव शुद्धपर्याय में होता है, परन्तु वह गौण है। उसमें शुद्ध पर्याय का अस्तित्व भी गौण है। ‘ऐसी प्रथम यथार्थ श्रद्धा जब ही कही जाती ही...’ ऐसा अपना अस्तित्व जो ग्रहण करता है, वह श्रद्धा करती है। श्रद्धा का कार्य अस्तित्व ग्रहण करने है। ऐसी प्रथम श्रद्धा तब कही जाती है कि जब ‘ऐसी श्रद्धा के प्रसार के साथ ही लीनता का प्रथम आत्मानुभव होता है।’ ऐसा श्रद्धागुण प्रसर गया; परिणमन में प्रदेश - प्रदेश में श्रद्धा प्रसर गयी, व्याप्त हो गयी - यह कब निश्चित करना ? श्रद्धा सीधी पकड़ में नहीं आती, (श्रद्धा में) साथ ही अविनाभावी लीनता होती है ही। ‘प्रसार के साथ ही लीनता का प्रथम आत्मानुभव होता है।’ तब श्रद्धा सुल्टी हुई - ऐसा पक्का हुआ। क्यों ? कि अनुभव में आया वैसा ही मैं हूँ - ऐसी निर्विकल्प प्रतीति का भाव है। ऐसी जो निर्विकल्प प्रतीति, वह लीनता हुई होवे तो हुई है - ऐसा मानना। लीनता न हुई होवे तो हुई है - ऐसा नहीं मानना - यह कहते हैं। अविनाभावी लीनता होनी चाहिए, भले ही वह चारित्र की पर्याय है तो भी।

प्रश्न :- यह श्रद्धा का पुरुषार्थ हुआ ?

समाधान :- हाँ; श्रद्धा का भी हुआ और

लीनता का भी हुआ और अनुभव का भी हुआ। श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र से मोक्षमार्ग शुरु हुआ है न ? इसलिए तीनों ही का पुरुषार्थ हुआ। श्रद्धा प्रधान गुणस्थान होने से उसे श्रद्धा का पुरुषार्थ कहते हैं। यहां चारित्र जघन्यभाव से होने से उसे चारित्र का पुरुषार्थ नहीं कहा जाता, परन्तु चारित्र का पुरुषार्थ है अवश्य; क्योंकि लीनता हुई है इसलिए, चारित्र प्रकट हुआ है, इसलिए। ऐसा है।

मुमुक्षु :- ऐसा बना तो सहज पुरुषार्थ हो, वह हुआ ठीक ?

पूज्य भाईश्री :- हाँ, प्रयोग में भेदज्ञान होने पर सहज लीनता हो गयी। लीनता हुई, उसमें ज्ञान का स्वसंवेदन हुआ, आत्मा का स्वाद आया और उस समय श्रद्धा सम्यक् परिणमित हुई। तीनों ही गुणों का कार्य एक ही काल में हो गया। समयभेद से नहीं होता।

‘अखण्ड ज्ञानघन पुरुषाकार (देहाकार) शरीर, कर्म, भावकर्म व शुद्धपर्याय से भी गहरा चैतन्य तत्त्व ‘मैं’ हूँ, यह ही मेरा अस्तित्व है, शुद्धपर्याय का अस्तित्व भी इसमें गौण है; ऐसी प्रथम यथार्थ श्रद्धा जब ही कही जाती है कि ऐसी श्रद्धा के प्रसार के साथ ही लीनता का प्रथम आत्मानुभव होता है।’ अनुभव भी होता है और मेरे स्वरूप में मेरी एकाग्रता और लीनता वर्तती थी - ऐसा भी परिणाम बराबर लीनता का भी ज्ञान होता है और तब प्रतीति (भी हुई कि) जैसा ज्ञात हुआ, वैसा ही मैं हूँ - ऐसा भी परिणमन हुआ, ऐसी प्रतीति भी ज्ञान में आती है; इसलिए ज्ञान में ज्ञान भी आता है, ज्ञान में प्रतीति भी आती है, ज्ञान में लीनता का ज्ञान भी आता है, ज्ञान में पुरुषार्थ का ज्ञान भी आता है और ज्ञान में आनन्द का भी ज्ञान आता है। पाँचो ही मुख्य गुण आ गये।

ऐसे पाँचो ही के स्वभाव अलग-अलग हैं। प्रतीति का लक्षण अलग कि जाना वैसा ही मैं

हैं; आनन्द का उल्लासरूप लक्षण अलग; लीनता का एकाग्रतारूप लक्षण अलग; ज्ञान की वेदनरूप लक्षण अलग - ऐसे पाँच भेद होन पर भी वहाँ पाँच का विकल्प उत्पन्न नहीं होता, अभेद ज्ञान होता है। लड्डूओ का ऐक टूकडा खाया तो कि मिठास भी थी, घी का स्वाद भी था, आटे का स्वाद भी था - तीनों का स्वाद आया तो तीन का विकल्प नहीं हुआ, परन्तु ज्ञान में तीनों का स्वाद आ गया। एक अभेद स्वाद में तीनों ही भेद का ज्ञान हो गया। उसमें कि मिठास अलग, घी अलग और आटा अलग, गेहूँ अलग - विकल्प उठाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। इसी प्रकार निर्विकल्प अनुभव में पाँच का स्वाद होने पर भी, पाँच तो समजा में आये ऐसे हैं, परन्तु अनन्त गुणों का स्वाद होने पर भी विकल्प उठाने की, विकल्प में पड़ने की आवश्यकता नहीं है। विकल्प उत्पन्न नहीं होता।

प्रश्न :- यह जो हुआ तो वृद्धि में भी यही विधि ? जो पुरुषार्थ की वृद्धि होती है, उसमें भी यही विधि ?

समाधान :- यही प्रकार है।

प्रश्न :- और पूर्णता हो... ?

समाधान :- वह इसी प्रकार। इसी विधि से। इसलिए तो ज्ञानी को उस समय हो जाता है कि जो मेरा पूर्णपद मुझे अनुभवगोचर होता है और इस प्रकार के पुरुषार्थ से अन्दर में लीनता होकर अनुभवगोचर होता है तो इसी स्थिति की वृद्धि, वही मुनिपना है और इसी स्थिति की वृद्धि, वह परमेश्वरपद है, अरिहन्तपद और सिद्धपद है तो अब व्यापार करना तो आया; अब तो व्यापार बढ़ाने की ही बात है। खरीदी करना आया, बेचना आया, अब तो उसका Volume बढ़ाने की बात है, दूसरा कुछ नहीं; चीज तो वह की वही है; वही की वही चीज लानी है, और उसी चीज को बेचनी है, जो पहले पाँच ताके लाता था,

वह अब पाँच गठरी लायेगा और फिर पाँचसौ गठरी लायेगा - दूसरी कुछ बात नहीं हैं।

प्रश्न :- लीनता और ज्ञान का अनुभव - इन दोनों में क्या अन्तर है ? जो ये पाँच बताये इनमें !

समाधान :- अनुभव में वेदन - स्वसंवेदन है और लीनता में एकाग्रता है। एकाग्रता को लीनता कहते हैं और वेदन है, स्वसंवेदन है, जिसमें आस्वाद आता है, ज्ञान में। ज्ञान को ज्ञान के वेदन का (आस्वाद आता है), वह ज्ञान का कार्य है, वह ज्ञानगुण है, यह (लीनता) चारित्रगुण है। फिर व्यापार किस प्रकार बढ़ाना - यह कोई सीखना पड़े - ऐसा है ? तुम एक बेगन नमक का भेजो या पूरी रेंक भेजो या ऐसी दश रेंक भेजो या सौ रेंक भेजो - व्यापार कैसे बढ़ाना - यह कोई सिखलाने की आवश्यकता नहीं है।

मुमुक्षु :- चाबी हाथ में आ गयी।

पूज्य भाईश्री :- चाबी हाथ में आ गयी। जैसे यह चाबी हाथ में आयी, फिर छलांग मारता है।

क्या कहते हैं ? कि (श्रद्धा के) 'प्रसार के साथ...' श्रद्धा के प्रसार के साथ - साथ लीनता का भी प्रथम आत्मानुभव होता है, अर्थात् ज्ञान में तो सब ज्ञात होता है - श्रद्धा, लीनता, आनन्द इत्यादि। 'लीनता का पुरुषार्थ अथवा इसमें वृद्धि यह सब पर्याय के कार्य हैं।' अब, क्या कहते हैं कि ऐसी बात की, परन्तु इसे गौण रखना। यह सब अध्यात्म की बातें हैं परन्तु यह सब पर्याय की बातें हैं, मुख्य करने योग्य नहीं है। कहाँ लाल बत्ती रखते हैं ? 'इस विषय में उनकी (सोगानीजी) की शैली बहुत सरस है। दृष्टिप्रधान शैली है न ! इसलिए ऐसी शैली नहीं आती।' फिर अध्यात्म और ज्ञान की बातें की, इसलिए सुननेवाले को ऐसा हो जाता है कि ऐसी अध्यात्म पर्याय ! आहा... ! ऐसी

अध्यात्म पर्याय ! इस प्रकार पर्याय की मुख्यता बढ़ने लगे, यह नहीं करने देते, उनकी शैली में मुख्य बात यह है कि ऐसी भूल कोई करे तो न करने दे।

‘लीनता का पुरुषार्थ अथवा इसमें वृद्धि यह सब पर्याय के कार्य हैं। मेरापना, मेरा अस्तित्वपना अथवा व्यापकपना तो केवल त्रिकाली ज्ञानघन अखण्ड चैतन्य में है।’ मेरापना, मेरा अस्तित्वपना और व्यापकपना तो केवल त्रिकाली ज्ञानघन अखण्ड चैतन्य जो ध्रुव चैतन्य है, उसमें ही है अर्थात् पर्याय को मुख्य नहीं करते हुए ऐसा कहते हैं। ये सब पर्याय के कार्य हैं। ठीक है - हो, अनुभव हो, लीनता हो, पुरुषार्थ हो - यह पर्यायका कार्य तो पर्याय में होता है, वहाँ मेरा अस्तित्व नहीं है; मेरा अस्तित्व त्रिकाली में है - ऐसा कहते हैं।

प्रश्न :- व्यापकपना भी पर्याय में नहीं है - ऐसा लेना न ?

समाधान :- हाँ, ऐसा है। श्रद्धा है की नहीं स्वीकारती। श्रद्धा एक समय की केवलज्ञान की और परमानन्द की पर्यायको (स्वीकार नहीं करती।) उसका विषय ही नहीं है। स्वीकार नहीं करती अर्थात् स्वीकार करना, वह उसका गुण है परन्तु वह अकेले ध्रुव को ही स्वीकार करती है, इसका अर्थ कि उसे (पर्याय को) स्वीकार नहीं करती। वस्तुतः तो वह ध्रुव को इस प्रकार से स्वीकार करती है कि ध्रुव को स्वीकार करनेवाली अरिहन्तदेव की श्रद्धा की पर्याय; अरिहन्तदेव की श्रद्धा की पर्याय जब उन्हें पहलीबार केवलज्ञान प्रकट हुआ तब और परमानन्द प्रकट हुआ, तब उस समय जो श्रद्धा का परिणमन (हुआ वह) तो चौथे गुणस्थान से शुरू है; अतः उस समय जो श्रद्धा का परिणमन है, उसमें बगल में केवलज्ञान और परमानन्द हुआ या नहीं हुआ या नहीं हुआ इसका उसे कुछ लेना-देना नहीं है।

होने या न होने के साथ उसे कुछ लेना-देना नहीं। स्वीकार नहीं करती - इसका अर्थ यह है कि है और निषेध करती है - ऐसा नहीं; उसका वह विषय ही नहीं है; इसलिए वह है या नहीं इसके साथ उसे कुछ सम्बन्ध ही नहीं है। होने - नहीं होने से श्रद्धा का परिणमन निरपेक्ष है, क्योंकि वह एक ही होनापना स्वीकार करती है। उसका कार्य होनापना स्वीकार करने का है और वह ध्रुव का होनापना स्वीकार करती है। फिर जगत में दूसरा कुछ है या नहीं ? यह कुछ नहीं। तो कि ‘ब्रह्म सत्य जगत मिथ्या’ जाओ ! यह यहाँ से निकला है द्रव्यदृष्टि में से निकला है। सांख्य का वचन है न ? तो यह मत सम्यग्दर्शन में से निकला है। ‘ब्रह्म सत्य जगत मिथ्या’ यह यहाँ से निकला है। मुझे लगा था कि उन्होंने अद्भूत पकड़ा है ! सम्यग्दर्शन में से सांख्य निकले हैं - यह अद्भूत पकड़ा है। क्योंकि सम्यग्दर्शन का विषय ही इतना है कि त्रिकाली ध्रुव, बस ! समाप्त। साथ में रही हुई केवलज्ञान की पर्याय होना या नहीं होना इसके साथ उसे कुछ लेना-देना नहीं है, कोई सम्बन्ध नहीं है। उसे - श्रद्धागुण को अपना परमात्मा मिल गया और वह पूर्णरूप से कृतकृत्य हो गयी, अधूरी नहीं रहती। अब जो स्वयं को पूर्ण मिला और स्वयं पूर्ण हुई, उसे दूसरे के साथ क्या लेना-देना है ?

मुमुक्षु :- श्रद्धा की पर्याय का परिणमन होने पर भी ध्रुववत् हो गयी।

पूज्य भाईश्री :- एक न्याय से वह स्वयं ध्रुववत् हो गयी।

मुमुक्षु :- ऐसा स्वीकार आये तब ऐसा परिणमन हो।

पूज्य भाईश्री :- श्रद्धा तो उसका नाम सम्यक्श्रद्धा है। उसका नाम सम्यक्श्रद्धा है, फिर ज्ञान सम्यक् होगा। वह नहीं होवे तो ज्ञान का ठिकाना नहीं रहता, आचरण का ठिकाना नहीं

रहता, पुरुषार्थ का ठिकाना नहीं रहता और दुःखी - दुःखी हो जाएगा, सुखी नहीं होगा यह सीधी बात है।

मुमुक्षु :- इसलिए सम्यग्दर्शन की ऐसी महानता है।

पूज्य भाईश्री :- है ही; बहुत - बहुत बड़ी बात है। यह बहुत बड़ी बात है। जो सम्यक् श्रद्धा होती है, वह बहुत बड़ी बात है; इसलिए तो जैनदर्शन में स्थान-स्थान पर इसकी प्रधानता का वर्णन किया है - उसका कारण यह है।

मुमुक्षु :- 'गुरुदेव'श्री ने यह एक ही बात की है न ?

पूज्य भाईश्री :- उन्होंने पैंतालीस वर्ष तक एक बात की है। श्रद्धा क्या चीज है, वह समजो। सम्यग्दर्शन क्या चीज है - यह तुम समजो, नहीं तो तुम्हारा शेष सब व्यर्थ जानेवाला है। व्रत भी बालव्रत है और तप भी बालतप है और ज्ञान, अज्ञान है, विपरीत है। अज्ञान है अर्थात् विपरीत है।

क्या कहते हैं ? 'मेरापना, मेरा अस्तित्वपना अथवा व्यापकपना तो केवल त्रिकाली ज्ञानघन अखण्ड चैतन्य मैं है - इस दृष्टि में पर्याय का पुरुषार्थ सहज स्वभाव है।' जहाँ दृष्टि गयी कि मेरा अस्तित्व यहाँ अखण्ड त्रिकाली ज्ञानघन में है, वहाँ वीर्यगुण में से पर्याय में पुरुषार्थ उछलकर बाहर आना, वह तो उसका सहज स्वभाव है। पुरुषार्थ के सामने क्या देखते हो और क्या प्रश्न

करते हो पुरुषार्थ का ? पुरुषार्थ करना नहीं पड़ता, पुरुषार्थ हो जाता है - ऐसा कहना है। सहज स्वभाव है यह एक सूत्र जैसी बात इन्होंने डाली है।

'मेरापना, मेरा अस्तित्वपना अथवा व्यापकपना तो केवल त्रिकाली ज्ञानघन अखण्ड चैतन्य मैं है - इस दृष्टि में पर्याय का पुरुषार्थ सहज स्वभाव है।' इस दृष्टि में पर्याय में पुरुषार्थ उत्पन्न होना, शुरु होना, वृद्धि होना (यह) सहज स्वभाव है, यह तो Automisation है, Automatic होनेका इसमें कुछ करने-घरने की आवश्यकता नहीं है, यह सब तो Automatic समाहित ही है। वस्तु का विज्ञान है, दृष्टि का कार्य होना चाहिए, बस ! एक ही बात है।

देखो ! ध्यान देने योग्य बातें आयी। विशेष चर्चा बाद में करूँगा, परन्तु Point तो ले लेवें, फिर कल विशेष लेंगे। उपर ऐसा कहा कि यथार्थ समझ में भविष्य का पुरुषार्थ गर्भित है। यहाँ यह कहा कि इस दृष्टि में पर्याय का पुरुषार्थ सहज स्वभाव है। एक जगह ज्ञान रखा और एक जगह दृष्टि डाली। लिखा है न ? हे न ? अन्तर पड़ता है या नहीं ? यह, यह विषय विचारणीय विषय है कि ऐसा कैसे कहते हैं ? ऊपर ज्ञान कहते हैं और नीचे श्रद्धा कहते हैं।

कल लेंगे...।

ट्रस्ट के इस स्वानुभूतिप्रकाश के हिन्दी अंक (मई-२०१२) का शुल्क मातुश्री वेलबाई विशनजी सावला, हस्त सुपुत्र श्री जवेरीभाई विशनजी सावला-दादर, मुंबई (मो. ०९३२२२९०६८०) के नाम से साभार प्राप्त हुआ है, जिस कारण से यह अंक सभी पाठकों को भेजा जा रहा है।

हो अन्य कुछ न हो ऐसी भावना रखनी। एक ज्ञायकका अभ्यास करना और देव-शास्त्र-गुरुको हृदयमें रखना वही जीवनका कर्तव्य है।

(स्वानुभूतिदर्शन-२७८)



प्रश्न :- कार्य होता क्यों नहीं ?

समाधान :- जितना कारण दे उतना कार्य हो। कारणकी कचाससे कार्यकी कचास है। पूरा कारण न दिया जाये तबतक कार्य नहीं आता। कारण न दिया जा सके तबतक उसकी भावना करनी, भेदज्ञानकी धाराका अभ्यास करते रहना, निर्विकल्प आत्माकी दृष्टि (रुचि) करनी। जबतक पूरा कारण नहीं दिया जाये तबतक कार्य नहीं आता-ऐसा सिद्धान्त है। कार्य न हो तो समझना कि कारण कमती है अतः कार्य नहीं आता। इसलिये कारणकी तीव्रता करनी, प्रतिक्षण उसका अभ्यास करते रहना वही करनेका है।

मुमुक्षु :- क्षण-क्षण तो अभ्यास नहीं होता।

बहिनश्री :- वह कहाँसे हो ? विभावका अभ्यास सहज हो गया है; प्रतिक्षण विभावोंका स्मरण आता है, इसलिये यहाँ कारण कमती है तो कार्य कहाँसे आये ? वैसे तो स्वयं ही है, कोई दूसरा नहीं है और बाहर कुछ लेने जाना नहीं है। स्वयं अंतरमें नहीं जाता, अपने ऊपर दृष्टि नहीं करता। मात्र विचार करे, भावना करे और फिर छूट जाता है। कारण पूरा दे तो कार्य जल्दी आये, कारण अल्प देता है इसलिये देर लगती। जितना विलम्ब हो वह कारणकी खामी है।

(स्वानुभूतिदर्शन-२७९)



प्रश्न :- अनुभव ज्ञानसे उद्धार है। तो क्या किसीको अनुभव हुआ हो और उसने शास्त्रोंका अध्ययन नहीं किया हो, तो भी चल सकता है ?

समाधान :- अनुभव ज्ञानमें शास्त्र आ जाते हैं। शास्त्रोंका जो रहस्य है वह अनुभूतिमें आ जाता

है; तथापि बीचमें शास्त्राभ्यास किया हो तो वह हानिकारक नहीं है। उसे कदाचित् शास्त्रोंके विशेष शब्द न आते हों, तथापि उसमें शास्त्रोंका रहस्य आ जाता है। शास्त्रमें कहते हैं कि द्रव्यदृष्टि कर, भेदज्ञान कर तथा अनुभूति कर तो जिसे अनुभूति हो गई है उसमें उसे (शास्त्रज्ञानका) रहस्य आ जाता है, क्योंकि भेदज्ञान द्वारा, द्रव्यदृष्टि द्वारा ही अनुभूति होती है। शास्त्रज्ञानका प्रयोजन भी उसमें आ जाता है। भगवानकी दिव्यध्वनिमें मुक्तिमार्ग आता है और अपनी अनुभूति हुई उसमें सब आ जाता है। ज्ञायकस्वभावको पहिचाननेसे अनुभूति होनेपर शास्त्रोंका रहस्य उसमें आ जाता है। युक्ति, आगम, अनुभव सब उसमें एकसाथ आ जाता है। शिवभूति मुनि कुछ नहीं जानते थे। गुरुने कहा 'तुषमाष भिन्न' - वह भी भूल गये। वहीं कोई स्त्री दाल और छिलके अलग कर रही थी, उसपरसे उन्होंने भेदज्ञानका आशय ग्रहण कर लिया और भीतर ज्ञायकमें उतर गये तो अंतर्मुहूर्तमें केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। उन्होंने अर्थ ग्रहण कर लिया; गुरुने जो कहा था उसका रहस्य ग्रहण कर लिया; उसमें सब शास्त्र आ गये।

(स्वानुभूतिदर्शन-२८०)



प्रश्न :- ज्ञायक ज्ञानसे ग्रहण होता है, पकड़में आता है वह क्या बराबर है ?

समाधान :- स्वयं अपनेको नहीं जानता इसलिये असाधारण गुणसे गुणी पकड़में आता है ऐसा कहा जाता है; परन्तु गुणसे गुणीका ग्रहण होता है वह भी भेद है। गुणीको स्वयं सीधा ग्रहण करना चाहिये। जो अनादिसे अनजान है वह गुणी, गुणके भेदसे पकड़में आता है ऐसा कहा जाता है; परन्तु विशेष गुणको नहीं पकड़ना है, पकड़ना है तो गुणीको; द्रव्यको पकड़ना है उसमें बीचमें गुण-लक्षण आता है।

(स्वानुभूतिदर्शन-२८१)



पूज्य बहिनश्री की तत्त्वचर्चा

प्रश्न :- स्वाध्याय अधिक करें या मंथन ?

समाधान :- जिसमें रस आये वह करना। चिंतनमें नहीं टिके तो स्वाध्याय करें और विशेष समझनेके लिये चिन्तवन करें, चाहे सो करें, समझपूर्वक शास्त्र पढ़े तो उसमें सब आ जाता है। अकेला चिन्तवन अधिक समय न चले तो शास्त्र साथ रखना। शास्त्र साथमें रखनेसे चिन्तवन विशेष दृढ़ होता है। आत्मा सम्बन्धी कुछ भी करें जिसमें रस टिके, अपनी परिणति स्थिर रहे वह करना। अपनेको जिसमें रस आये वह करना। एकदम ध्यानका प्रयत्न करनेसे स्वानुभूति नहीं होती। प्रथम ज्ञान करनेपर सच्चा ध्यान होता है। पहले ज्ञायकता पहिचाननेमें आये और फिर प्रतिक्षण में भिन्न हूँ, भिन्न हूँ, इसप्रकार दृष्टि ज्ञायकपर जमे तब स्वानुभूति होती है। अंतर्दृष्टि जमे बिना किसके आधारसे स्वानुभूति प्रगट हो ? सर्व प्रथम दृष्टि ज्ञायकमें स्थापित करनी चाहिये।

(स्वानुभूतिदर्शन-२७६)



प्रश्न :- प्रथम यह बात श्रद्धामें बैठानी चाहिये ?

समाधान :- सर्व प्रथम बुद्धिपूर्वक श्रद्धामें यह बैठाये कि 'यह मैं चैतन्य हूँ, मैं यह जाननेवाला ज्ञायक हूँ, मैं एक ज्ञाता तत्त्व हूँ। जगतके इन समस्त तत्त्वोंमें मैं शाश्वत शुद्धात्मतत्त्व हूँ। मुझमें कोई कलंक नहीं, मैल नहीं ऐसा मैं शुद्धात्मा हूँ। अनन्तकाल बीता तो भी मैं स्फटिकरत्न जैसा निर्मल हूँ।' पीछे अपने तत्त्वको पहिचानकर उसमें दृष्टि जम जाय, तो निर्विकल्पता प्रगट हो। स्फटिकमें जिस प्रकार लाल-पीले रंग झलकते हैं वे सब ऊपर-ऊपर हैं, उसी प्रकार मुझमें जो कोई विभाव होते हैं वे मेरे मूलस्वभावमें नहीं हैं; मैं तो स्फटिक

समान निर्मल हूँ।

पानीमें जो मलिनता हो वह निर्मली औषधिसे दूर होती है; उसी प्रकार ज्ञानरूपी सम्यक् औषधिसे रागादि मलिनता दूर हो जाती है। यह तो दृष्टान्त है, उसी प्रकार अपनेको पृथक् करनेका प्रयत्न करे, उस हेतु चिन्तवन करे, शास्त्र-स्वाध्याय करे। अनेक प्रकारके शुभभाव आते हैं, परन्तु स्वभावको जाननेका विशेष निमित्त स्वाध्याय एवं चिन्तवन है। अधिक समय तक चिन्तवन एवं शास्त्र-स्वाध्याय नहीं हो सकते इसलिये जिनेन्द्रदेवकी महिमा आती है और उसमें रुकता भी है, परन्तु उसके साथ सच्चा ज्ञान होना चाहिये। ज्ञानपूर्वक महिमा आनी चाहिये।



(स्वानुभूतिदर्शन-२७७)



प्रश्न :- जीवनके कर्तव्य सम्बन्धी कुछ कहनेकी कृपा करें।

समाधान :- आत्मा आनन्दका सागर है, उसे ग्रहण करनेसे आनन्दका सागर प्रगट होता है। उसे ग्रहण करनेके लिये निरन्तर-प्रतिक्षण अभ्यास करे तो अंतरमेंसे आनन्दसागर प्रगटता है। वह कहीं दूर नहीं है, कहीं दूँढने जाना पड़े ऐसा नहीं है, अपने पास ही है। सबके ऊपरसे दृष्टि को वापस खींचकर अपनेमें दृष्टि करे तो वह प्रगट हो। यह जो बाह्यदृष्टि है उसे वहाँसे उठाकर अर्थात् स्थूल पदार्थोंपरसे, शुभभावों परसे तथा क्षणिक भावोंपरसे दृष्टि उठा कर अंतरमें जो पूर्णानंदका सागर है जहाँ कि अनन्तगुण-रत्नसमूह भरे हैं, वहाँ उसे ले जाय तो वह आनन्दसागर प्रगट होता है। यही करनेका है। अपने पुरुषार्थकी कमीके कारण स्वयं अटकता है, इसलिये निरन्तर देव-शास्त्र-गुरुको हृदयमें रखकर सतत उसीका ही अभ्यास जीवनमें

(शेष अंश पृष्ठ संख्या-१९ पर)

बंबई, भादों सुदी १०, रवि, १९५०

यह आत्मभाव है और यह अन्यभाव है, ऐसा बोधबीज आत्मामें परिणमित होनेसे अन्यभावमें सहजमें उदासीनता उत्पन्न होती है, और वह उदासीनता अनुक्रमसे उन अन्यभावसे सर्वथा मुक्त करती है। जिसने निजपरभावको जाना है ऐसे ज्ञानीपुरुषको, उसके पश्चात् परभावके कार्यका जो कुछ प्रसंग रहता है उस प्रसंगमें प्रवृत्ति करते-करते भी उससे उस ज्ञानीका संबंध छूटा करता है; परंतु उसमें हितबुद्धि होकर प्रतिबंध नहीं होता।

प्रतिबंध नहीं होता यह बात एकांत नहीं है, क्योंकि जहाँ ज्ञानकी विशेष प्रबलता नहीं होती वहाँ परभावके विशेष परिचयका प्रतिबंधरूप हो जाना भी संभव है, और इसलिये भी श्री जिनेन्द्रने ज्ञानी पुरुषके लिये भी निजज्ञानके परिचय-पुरुषार्थको सराहा है; उसे भी प्रमाद कर्तव्य नहीं है, अथवा परभावका परिचय करना योग्य नहीं है; क्योंकि वह किसी अंशमें भी आत्मधाराके लिये प्रतिबंधरूप कहने योग्य है।

ज्ञानीको प्रमादबुद्धि संभव नहीं है, ऐसा यद्यपि सामान्य पदमें श्री जिनेन्द्र आदि महात्माओंने कहा है, तो भी वह पद चौथे गुणस्थानसे संभवित नहीं माना, आगे जाकर संभवित माना है, जिससे विचारवान जीवका तो अवश्य कर्तव्य है कि यथासंभव परभावके परिचित कार्यसे दूर रहना, निवृत्त होना। प्रायः विचारवान जीवको तो यही बुद्धि रहती है, तथापि किसी प्रारब्धवशात् परभावका परिचय प्रबलतासे उदयमें हो वहाँ निजपदबुद्धिमें स्थिर रहना विकट है, ऐसा मानकर नित्य निवृत्तबुद्धिकी विशेष भावना करनी, ऐसा महापुरुषोंने कहा है।

अल्पकालमें अव्याबाध स्थिति होनेके लिये तो अत्यंत पुरुषार्थ करके जीवको परपरिचयसे निवृत्त होना ही योग्य है। धीरे धीरे निवृत्त होनेके कारणों पर भार देनेकी अपेक्षा जिस प्रकार त्वरासे निवृत्ति हो वह विचार कर्तव्य है; और ऐसा करते हुए यदि असाता आदि आपत्तियोगका वेदन करना पड़ता हो तो उसका वेदन करके भी परपरिचयसे शीघ्रतः दूर होनेका उपाय करना योग्य है। इस बातका विस्मरण होने देना योग्य नहीं है।

ज्ञानकी बलवती तारतम्यता होनेपर तो जीवको परपरिचयमें स्वात्मबुद्धि होना कदापि संभव नहीं है, और उसकी निवृत्ति होनेपर भी ज्ञानबलसे वह एकांतरूपसे विहार करने योग्य है। परंतु उससे जिसकी नीची दशा है, ऐसे जीवको तो अवश्य परपरिचयका छेदन करके सत्संग कर्तव्य है, कि जिस सत्संगसे सहजमें अव्याबाध स्थितिका अनुभव होता है। ज्ञानीपुरुष कि जिन्हें एकांतमें विचरते हुए भी प्रतिबंधका संभव नहीं है, वे भी सत्संगकी निरंतर इच्छा रखते हैं, क्योंकि जीवको यदि अव्याबाध समाधिकी इच्छा हो तो सत्संग जैसा कोई सरल उपाय नहीं है।

ऐसा होनेसे दिन प्रतिदिन, प्रसंग प्रसंगमें, अनेक बार क्षण क्षणमें सत्संगका आराधन करनेकी ही इच्छा वर्धमान हुआ करती है। यही विनती।

आ० स्व० प्रणाम।



पूज्य श्री सोगानीजी की १०१ वीं जन्मजयंती पर कोटीकोटी वंदन
धन्य गुरु ! धन्य शिष्य !
पुरुषार्थमूर्ति पूज्य निहालचंद्रजी सोगानी के विषय में
सौम्यमूर्ति पूज्य भाईश्री के प्रमोदपूर्ण हृदयोद्गार !

गुरुदेवने कहा था कि, ये सोगानीजी हमसे पहले जायेंगे। ऐसा श्रुतज्ञानमें आया था। (आजकल) कोई केवलज्ञान है नहीं। फिरभी श्रुतज्ञानमें आया कि एकाध भवमें देवलोकसे निकलकर मनुष्य होकर झपट करेंगे। ये इनके शब्द हैं-झपट करनेवाले हैं। वे लक्षण अभीसे दिख गये। गजब तेज हैं, तेजी जोरदार है, एकदम द्रव्यदृष्टिका विषय छपटकर ले लिया है। आते ही आते सम्यक् लिया है। तेजी नामप ली कि आते ही आते लिया है। वर्षो बीत जाय और सालों तक अभ्यास करे यह बात इनके लिये नहीं रही।



उनकी जो सत्संगकी भावना, उपकारी सत्पुरुषके प्रति भक्ति, उनकी जो गृहस्थादि दशामें उदासीनता, और उनकी जो दृष्टिकी, दृष्टि में तत्त्व की पकड-ये चार पहलू उनके वचनोंमेंसे बहुत अच्छी तरह निकलते हैं! चारोंके चारों पहलू इतनी अच्छी तरह निकलते हैं कि वह आत्मा कैसा था वह तुरंत पता पड़ जाय ऐसी बात है। चारों बाजुसे यदि उसकेबारेमें विचार किया जाय तो उनके शब्दोह परसे उनके आत्मा का सीधा मूल्यांकन हो जाय ऐसा है। ऐसा सुंदर विषय है।

(-पूज्य भाईश्री शशीभाई)